लौहित्य साहित्य सेतु: सहयोगी विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित अर्धवार्षिक द्विभाषिक ई-पत्रिका
वर्ष: 2 संख्या: 2 ; जनवरी-जून, 2021

स्रोतस्विनी शर्मा की कविताएँ

अनार का हिस्सा

तू था या मैं ?
जिसने काँपते दूसरे को धीरे से जगाया था ?
इस ख़्वाब में कि रूह पर दौड़ते सवाल
और पीठ पर चलती गीलीं गुज़ारिशें
आधे-अधूरे तुक्के और अनक ही सिफ़ारिशें
हमारी सुकून की नींद को तोड़ने की हिम्मत तो करें

कहीं रात की सादगी को गुदगुदाती हुई मक़बूल पंछी
इशारा करने लगी कि दिन की लालिमा अब दूर नहीं
जैसे टपकता रस, और इस बीच
खर्राटे लेते पेड़ों के बीच में से उगा अनार का एक छोटा हिस्सा
पर वह तू था या मैं ?
जिसने हमारी जलती आँखों में उसको सबसे पहले देखा ?

जिस तरह से कोरे काग़ज़ पर सियाही की छीटें पड़े
हमारी उँगलियाँ भी हमारे शरीरों पर ऐसे ही भागे
नूर के इस जंग में ख़ुद अभिमन्यु ही न हार जाए
तू ही था न ?
जिसने बहार-ए-रोशनी को हमारे यहाँ यों क़ैद रखा ?

छूटती हुई यादाश्त

इन दिनों,
मैं ख़ुद को कुछ बेचैन पाती हूँ
जैसे मेरे क़दम समय के काँटों से बिछड़ते गए
मैं अजीब जगहों में मिलती गयी, बिन-बुलाए मेहमानों के इंतज़ार में
जो मेरे ठिकाने की पूछताछ करें

जगह-इलाक़े मेरी यादों से भागने लगे,
और मैं अपने आशिक़ों के तिल दोस्तों के बदनों में ढूँढने लगी,
जैसा कि कोई मुसाफ़िर किसी नए शहर की तख़्तियों में अपनी पुरानी मंज़िलें तलाशे
मैं जिन जगहों में अक्सर जाती, वे बेदफ़ा उजाड़ बन जातीं
इसी ख़्वाब में कि भूलकर भी वे किसी भटकते परिंदे के हाथ लग जाए

जब भी मैं लोगों को देखूँ, मुझे लगे, न तो मुझे याद है उनकी आवाज़ न ही उनकी सोच,
कभी गहरी चर्चाओं के बीचोंबीच, मैं अपनी ही आवाज़ भूल जाऊँ,
और किसी खंडहर बाग़ की कुर्सी पर बैठ, उसे अचानक खोज निकालूँ,
वहाँ, मैं दुनिया की मौत पर घंटों बतियाऊँ
सुननेवाले इमारतों के साथ

मेरी ज़िंदगी का हर दिन ऐसे ही गुज़रता है,
क्योंकि हर दिन इन नाचते जानवरों के तमाशों में मुझे मिले
भीनी पहचानों पर भाषण देते हुए समझदार हाथी
शीश शहरों में ऊँचे पुल बनाते बंदर
और मैं, अपनी यादों पर क़ाबू पाने की कोशिश में

और कभी-कभी, मैं बहने लगती हूँ, इसी तकलीफ़ से कि मुझे अपना घर याद नहीं
मैं चलती जाती हूँ, इसी आशा में कि कोई देखे तो सही, बताए तो सही, मैं खोयी कैसे
चलती ही जाती, चलती ही जाती जबतक कि मैं इस संसार के अंत तक न पहुँच जाऊँ

और ग़लती से ही सही, उस तरफ़ तक गिरकर ही सही
याद तो आए इस दुनिया में मेरी जगह क्या है

आँखों ही आँखों में इशारा

अक़्सर
मैं ख़ुद को कुछ ऐसे हाल में पाया करती हूँ
जिसमें मेरा जी ललचाता है - कि निकाल फेंकूँ आँखें
अपनी
और उन आज़ाद फिरते जलीलों की
जिनकी बेहूदा आँखें
सड़क पर
घर पर
मंदिरों में
बाज़ार में
अस्पताल में
हर नुक्कड़ – किनारे में
मेरी और अपनी माँ की, अपनी बहन की
Queer लोगों की और एक-दो साल के भी बच्चों की
तवैफ़ों, पत्नियों, दलितों और देवियों की, जान लेने में बनी रहतीं।

ऐसे कई सारे क़िस्से हैं, जब मेरी और उनकी नज़र
एक दूसरे से मिलीं
जब मैं दिल्ली में महिलाओं के एक कॉलेज में पढ़ा करती थी
तब रोज़ मुझे एक पुलिस स्टेशन से गुजरना पड़ता था
गली के गुंडों और चौकी के थुल्लों की एक अदम्य जोड़ी
पैदल चलती हर लड़की को अपनी आँखों से चीरती
चलती हुई बड़ी गाड़ियों के काले शीशे खुलते

तो एक बार और, उनकी आँखें उतनी ही बेईमान होतीं
जितना कि उनकी गाड़ियों पर लगीं ख़ुदाओं की तस्वीरें
जैसे वे मुझे अपनी आँखों से अश्लील बनाते, वैसे ही मैं अपनी
आँखों से उनके हाथ-पाँव चबा जाती
ताकि उन्हें फाड़कर, मैं उस दिन के लिए अपना ग़ुस्सा बरकरार रख सकूँ
जब इन बेकारों के अंधे हाथ उठने लगे

कभी-कभी ये आँखें बिना शरीर के आ तैयार होतीं
भरी दोपहर में या आधी रात में
ये सुनसान रास्तों और भद्दी भीड़ों के बीच बसतीं
और मैं ख़ुद ही हर ख़ाली सड़क पर पीछे मुड़-मुड़कर उन्हें बुलंद साबित करती
जब हमारी अनदेखी नज़र मिलती, तो मैं ही अपने डर को लापरवाही का पैग़ाम देती
चूँकि बाहर मैं हूँ, और ये घिनौनी आँखें अंदर, ख़ैरियत से न, मेरा हर क़दम छाने
पाप करने के शुभ महूरत का इंतज़ार करतीं।

संपर्क-सूत्र :
ई-मेइल : srotoswini.s94@gmail.com